International Journal of Advanced Research and Development
ISSN: 2455-4030
Impact Factor: RJIF 5.24
www.advancedjournal.com
Volume 3; Issue 4; July 2018; Page No. 67-71

बघेलखण्ड की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का समीक्षात्मक अध्ययन

डॉ0 नृपेन्द्र सिंह परिहार
प्राचार्य, डी0 आर0 एस0 बी0एड0 कालेज, गंगापुर, जिला रीवा, मध्य प्रदेश, भारत।

सारांश
बघेलयुगीन विन्ध्य क्षेत्र इसकी सबसे बड़ी रियासत रही है, रीवा और संयुक्त रही हैं, कोठी, सोहाबल, नागौद, मैहर, बरौंधा के साथ ही जागीरें जसो, रयगाँव व अन्य चाद छोटी जागीरें। यही क्षेत्र तत्कालीन पोलेटिकल एजेन्ट के आदेश (सन 1871) से बघेलखण्ड कहा और लिखा जाने लगा। इस क्षेत्र में बघेल युग की शुरुआत हुई ईस्वी सन् 1562 में जब बघेल राज्य गहोरा नरेश, रामचन्द्र जू देव (1555 गहोरा 1562 बाँधौगढ़ 1592ई.) ने विन्ध्य क्षेत्र आकर बाँधौगढ़ में बाँधौराज्य की आधारशिला धरी। बघेल राज्य गहोरा यमुना नदी के दक्षिण, पश्चिम से पूरव की ओर पट्टी की भाँति वर्तमान बाँदा क्षेत्र से मिरजापुर क्षेत्र तक स्थिति था। राजा रामचन्द्र के बाद, उनके वारिस राजा वीरभद्र देव (1592–93 ई.) की मृत्यु हुयी, तब उपजे राजनीतिक प्रपंच से तस्त्र इनके पुत्र, राजा विक्रमादित्य (1605–1624) बाँधौगढ़ छोड़ आ पहुंचे रीमाँ। बाँधौगढ़ सन 1597–1602 तक मुगल सल्तनत के अधीन रहा। राजा विक्रमादित्य ने रीमाँ में बिछिया और बीहर नदियों के संगम तट पर, शेरशाह सूरी के पुत्र, जलाल खाँकी ईस्वी सन् 1554 में तामीर कराई रिक्त गढ़ी से जोड़कर अपना आवास निर्मित कराकर किले का आकार दिया। रीमाँ नाम के बघेल राज्य की राजधानी स्थापित हुई। प्रायः तीन सदियों के अंतराल में चलता रीमाँ नाम, अंततः बदल कर रीवा हो गया।

मूल शब्द: बघेलखण्ड, ऐतिहासिक एवं समीक्षात्मक, ब्याघ्रदेव, विन्ध्यांचल।

प्रस्तावना
बघेलखण्ड की स्थिति बहुत ही गंभीर है। यह क्षेत्र पर्याप्त आर्थिक संसाधनों से परिपूर्ण है किन्तु फिर भी यह अत्यंत पिछड़ा है। इसका मुख्य कारण है, राजनीतिक उदासीनता। बघेलखण्ड क्षेत्र दो राज्यों में विभाजित है – उत्तर प्रदेश तथा मध्यप्रदेश, लेकिन भू–सांस्कृतिक दृष्टि से यह क्षेत्र एक दूसरे से अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। रीवा रिवाजों, भाषा और विवाह संबंधों ने इस एकता को और भी पक्की नींव पर खड़ा कर दिया।

किसी स्थान विशेष के ऐतिहासिक तथ्य को समझने के लिए वहाँ के वातावरण स्थान विशेष की जानकारी और पुरातन की उन समस्त वस्तुओं का अवलोकन आवश्यक होता है, जिनके माध्यम से हम अतीत को जान सकते है। विन्ध्य पर्वत पर स्थित बघेलखण्ड का इतिहास गरिमामय रहा है।[1] रीवा के निकट ही सम्राट अशोक द्वारा निर्मित भरहुत के ऐतिहासिक बौद्ध स्तूप हैं, जिनसे स्पष्ट है कि यह क्षेत्र किसी समय इतिहास प्रसिद्ध महान मौर्य साम्राज्य का अंग था।

शुंग राज्य के पश्चात ईशा की चौथी तथा पांचवीं शताब्दी ई. में यह क्षेत्र मगध के गुप्त सम्राटों के अधीन रहा, जिसके पश्चात इस क्षेत्र मे कलचुरि, चेदि और हर्यंक वंश के राजाओं ने राज्य किया। ईशा की 12 वीं शताब्दी तक कलचुरि राजा इस क्षेत्र के भाग्य विधाता रहे। इसके बाद लगभग 100 वर्षों तक यह क्षेत्र चौहानों, सेंगरों तथा गोड़ों के हाथ में रहा। 13 वीं शताब्दी में इस क्षेत्र पर 'बघेल' राजपूतों का अधिपत्य हुआ। गुजरात के पांचवें सोलंकी राजा भीमदेव के चौथे पुत्र सारंगदेव के पुत्र वीरसिंह के सुपुत्र का नाम 'बाघराव' था। गुजरात के शासक सिद्धराज जय सिंह (वि.सं. 1150–1199) ने 'बाघराव' को जागीर में 'बघेला' गांव दिया था, जिसके आधार पर बाघराव की संतानें 'बघेल' नाम से विख्यात हुईं। बाघराव 'बाघदेव' भी कहे जाते थे, गुजराती में देव का अर्थ ठाकुर होता है। यही बाघदेव दक्षिण सोलंकी सम्वत् 631 यानी विक्रमी सम्वत् 1234 में गुजरात से चलकर अनेक तीर्थों का भ्रमण तथा सामाजिक परिस्थितियों का अध्ययन करते हुए चित्रकूट पहुँचे। उस समय चित्रकूट के आस–पास कोई सुदृढ़ सत्ता नहीं थी। 'बाघदेव' जिन्हें 'व्याघ्रदेव' के नाम से सम्बोधित किया जाता है, ने कालिन्जर से 16 मील उत्तर पूर्व की ओर पहाड़ी पर चन्देलों के रिक्त दुर्ग 'मरफा' पर (जो कि समुद्र तल से 1240 फुट ऊँचा था) अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया और उन्होंने अपने रक्षार्थ अपने साथ आये हुए लोगों की जो बस्ती बसाई उसका नाम 'बघेलवारी' पड़ गया। व्याघ्रदेव का प्रभुत्व इस किले के उत्तर में 15 मील 'बघेल भवन' और दक्षिण में 15 मील 'बघेलन नाला' तक था। उस समय दिल्ली के सिंहासन पर कोई सुदृढ़ शासक नहीं था। इस कारण से आस–पड़ोस के शासकों ने व्याघ्रदेव से किसी प्रकार छेड़–छाड़ नहीं की। परिणाम यह हुआ कि उन्होंने 'भर' के राजा से कालिंजर छीन लिया और साथ ही पड़ोसी मण्डीहा राजा को जीतकर उसका राज्य ले लिया। मण्डीहा रघुवंशी राजा था। गहोरा में लोधियों के राज्य में भी व्याघ्रदेव ने अधिकार कर लिया। श्री हरवंश राय तिवारी ने सन् 1880 में लिखा है कि व्याघ्रदेव वि.सं. 1234 में गुजरात से अपने कुछ साथियों के साथ पूर्व की ओर तीर्थ यात्रा के लिए चल पड़े थे। इन्होंने गहोरा पर कब्जा कर लिया और कालिंजर गढ़ के किले में रहकर वहां राज्य करने लगे। कुछ समय बीतने पर उनसे तिवारियों, से जो लोधियों के मंत्री थे, मित्रता हो गई। उन्होंने तिवारियों से कहा कि यदि 'डहार' राज्य में आप हमारा अधिकार करा दें तो आपको आधा राज्य बांट दूंगा। आप मेरे गुरू और कुल पूज्य हैं, अस्तु आप हमारी सहायता कीजिए। इस तरह व्याघ्रदेव और तिवारियों के बीच मंत्रणा हुई। लोधियों की सम्पूर्ण सेना तिवारियों के आधिपत्य में थी। एक दिन जब लोधियों के यहाँ कोई महोत्सव हो रहा था और वे सब मदिरा पीकर उन्मत थे, उसी समय उनकी ही सेना लेकर इन्होंने चढ़ाई कर दी और विजय प्राप्त की। इसके पश्चात महाराज व्याघ्रदेव ने तिवारियों को आधा राज्य

देना चाहा, जिसे इन लोगों ने स्वीकार नहीं किया। तब महाराज ने तिवारियों को 'अधरजिया तिवारी' की पदवी प्रदान की। उसी दिन से रीवा राज्य के तिवारी 'अधरजिया' कहलाने लगे।

इसके पश्चात् इनके पड़ोसी राज्य तरौहां (चित्रकूट) के शासक मुकुन्द देव ने अपनी इकलौती लड़की का विवाह व्याघ्रदेव के साथ कर अपना राज्य भी इन्हें सौंप दिया। बाद में व्याघ्रदेव ने परदमा और तरहार प्रान्त भी जीतकर एक विस्तृत भू–भाग पर अधिकार कर लिया। उन्होंने अपनी राजधानी 'गहोरा' में स्थापित की। इन्हीं के पुत्र कर्णदेव के विवाह में 'बाधंव–गढ़' का प्रसिद्ध किला दहेज में मिला। कर्णदेव ने इसके बाद कैमोर पहाड़ पर भी अधिकार कर लिया व राज्य की राजधानी 'बान्धवगढ़' में स्थापित की तभी से इस वंश के नरेश 'बांधवेश' कहे जाने लाने लगे। इस वंश के 22 वें नरेश महाराजा विक्रमादित्य सन् 1618 में गद्दी पर बैठे। उन्होंने बीहर–बिछिया के संगम स्थल में 'रीवा' नगर को बसाया। आज रीवा नगर को बसे हुए 400 वर्ष होने जा रहे हैं। यह नगर इस क्षेत्र के 400 वर्षों के इतिहास को अपने अंक मे समेटे हुए है

'रीवा' विन्ध्याचंल का राजनीतिक केन्द्र है। एक संरक्षित ग्राम से नगर और रीवा राज्य की राजधानी बनने का गौरव इसे आज से 385 वर्ष पूर्व सन् 1618 में प्राप्त हुआ। तब से लेकर यह नगर अपनी प्राचीनता एवं गौरव को समेटे हुए निरंतर देश में अपना महत्व सुस्थापित किये हुए है। 330 वर्ष तक यह रीवा राज्य की राजधानी रहा। स्वतंत्रता के पश्चात् राष्ट्रीय एकीकरण की दिशा में जब देशी रियासतों का भारतीय संघ में विलीनीकरण हुआ, उस समय इसे 4 अप्रैल 1948 को नव निर्मित विन्ध्यप्रदेश की राजधानी बनने का सुअवसर प्राप्त हुआ। रीवा नगर की यह स्थिति 31 अक्टूबर 1956 तक रही। राज्य पुनर्गठन आयोग की सिफारिश के अनुसार विन्ध्य प्रदेश, भोपाल, महाकौशल एवं मध्यभारत को मिलाकर 01 नवम्बर 1956 को जब वर्तमान मध्यप्रदेश का निर्माण हुआ तब नव निर्मित प्रदेश की राजधानी भोपाल में स्थापित हुई और रीवा नगर की स्थिति सम्भागीय मुख्यालय की हो गई। इस तरह रीवा देश का एक ऐसा प्राचीन, ऐतिहासिक नगर है जो विगत चार शताब्दियों में हुए परिवर्तनों का साक्षी है।

रीवा के उद्गम स्थलों को अपने अंचल में लिये हुए रेवा राज्य की राजधानी और संस्कारधानी इस नगरी का नाम भी रेवा पड़ा। रेवा को यहाँ की बोलचाल की भाषा बघेली में रीवा कहा जाने लगा और इस तरह यह नगर रीवा के नाम से विख्यात हुआ। रीवा में रेवा की संस्कृति प्रस्फुटित हुई, फलीफूली और विकसित हुई, जिसमें भारतीय प्राचीन संस्कृति और स्थानीय संस्कृति के रंगों का सम्मोहक मिश्रण है। यहाँ स्थानीय संस्कृति के तीन स्वरूप–जनवादी ग्रामीण समाज, प्रमुख वर्गीय समाज और वनवासी समाज मिश्रित रूप में परिलक्षित होते हैं, जिनकी बुनियाद और स्त्रोत भारत की प्राचीन संस्कृति है। इसीलिये सामंजस्य, सहनशीलता और उदारता रेवा संस्कृति के आधार स्तम्भ हैं। यहाँ शैवमत, वैष्णवमत, नाथमत, संतमत सभी परिलक्षित होते हैं। नगर में महामृत्युंजय मन्दिर (किला रीवा), शिव मन्दिर (कोठी कम्पाउण्ड), विष्णु मन्दिर (लक्ष्मण बाग), देवी मन्दिर (रानी तालाब), हनुमान मन्दिर (चिरहुला और रामसागर), बड़ी दरगाह (अमहिया), छोटी दरगाह (कटरा) धार्मिक आस्था के केन्द्र हैं। यह भू–भाग शिव, राम, मार्कण्डेय तथा कबीर की तपस्थली रहा है। अमरकण्ठ जिसे हम अमरकण्टक कहते हैं, शिव व कबीर की साधना स्थली है। चित्रकूट भगवान राम की योग स्थली है और रामनगर मार्कण्डेय की तपस्थली है। रामायण कालीन संस्कृति का अवशेष चित्रकूट, महाभारत की तपस्थली है। रामायण कालीन संस्कृति का अवेशष चित्रकूट महाभारत कालीन संस्कृति का भग्नावेष सोहागपुर, पाली, बिरसिंहपुर और बौद्धकालीन अवशेषों का स्थल गोरगी, रीवा को अपनी प्राचीनता से आलोकित करते हुए उज्जवल भविष्य की ओर बढ़ने की प्रेरणा दे रहे हैं। खुटेही, अमहिया, कटरा, बिछिया और घोघर की दरगाहें तथा चर्च एवं गुरुद्वारें लोगों के दिलों में प्रेम भाई–चारे और सहिष्णुता की संदेश स्थली है। 'सेमइया' जैसी स्वच्छता, दूध, शक्कर और मेवे के योग से पैदा होने वाली इसकी मिठास यहाँ के लोगों का जन्मजात स्वाभाविक गुण है। 'धर्म निरपेक्षता' की भावना यहाँ के लिये कोई नवीन बात न होकर यहाँ की सामाजिक और सांस्कृतिक धरोहर है। यहाँ सभी एक परिवार के रूप में रहते हैं। 'मीर' का यह कथन–यहाँ के समाज का यथार्थ चित्रण करता है।

बघेलखण्ड के ऐतिहासिक परिदृश्य में कुछ स्थान–विशेष ऐसे है जिन्हें किसी भी स्थिति में नहीं छोड़ा जा सकता है क्योंकि वे अमूल्य धरोहर, पर्यटक स्थल, आदि के रूप में जाने जाते हैं। जैसे बघेलखण्ड के दक्षिणी सिरे में स्थित अमरकण्टक। रीवा से अमरकण्टक सड़क मार्ग से 310 किलोमीटर दूरी पर स्थित है। रीवा रेलवे स्टेशन से रीवा–बिलासपुर ट्रेन द्वारा अमरकण्टक जाने के लिये पेण्ड्रा स्टेशन पर उतरा जा सकता है। पेण्ड्रा से लगभग 30 कि.मी. की दूरी पर अमरकण्टक है, जहाँ कि लिये नियमित रूप से बस सेवा तथा टैक्सी सेवा उपलब्ध है। अमरकण्टक नर्मदा का उद्गम स्थल है। इस स्थान को सोमपर्वत भी कहा जाता है। वायुपुराण में उल्लेखित है कि, एक बार ताण्डव करते हुये शिव के शरीर से पसीना बह निकला। वही आकर एक कुण्ड में इकट्ठा हो गया, जिससे एक बालिका प्रकट हुई, वह नर्मदा थीं। शंकर जी ने उन्हें लोक कल्याण के लिये नदी बनकर बहने को कहा। यह कुण्ड विन्ध्य पुत्र मेकल पर्वत श्रृंखला के शीर्ष पर स्थित है। नर्मदा मेकल पर्वत से निकलने के कारण 'मेकलसुता' कहलाती है। यही ग्यारह कोणीय कुण्ड नर्मदा का उद्गम स्थल माना जाता है। नर्मदा को संस्कृत ग्रन्थों में रेवा कहा गया है। रीवा का नामकरण भी इसी आधार पर हुआ है। कुण्ड के आस–पास 20 मन्दिर हैं। कुण्ड के पश्चिम में गोमुख से पानी बहकर जहाँ जमा होता है, उसे कोटि तीर्थ कहते थे। अमरकण्टक का पूरा क्षेत्र सिद्ध स्थल है।[2] स्कन्ध पुराण में कहा गया है कि, मन से भी अमरकंटक क्षेत्र का स्मरण करने वाले व्यक्ति को चन्द्रायण व्रत का पुण्य प्राप्त होता है।[3] मत्स्य पुराण में लिखा है कि, यहाँ देवों का निवास है, इसीलिये इसे अमरकण्टक कहा गया है। प्राकृतिक वरदान के रूप में अमरकण्टक अत्यन्त रमणीय स्थल है। यहाँ पिण्डदान का भी महत्व है। अमरकण्टक से ही भारत की प्रसिद्ध सलिला सोन का भी उद्गम हुआ है। सोन नदी के उद्गम स्थल को सोनमूड़ा के नाम से जाना जाता है।[4] सोनमूड़ा में ही आँख के लिये अत्यन्त लाभदायक जड़ी–बूटियों जैसे गुलबकावली वनस्पतियाँ आज भी विद्यमान है। अमरकण्टक में ही पुण्य सलिला जुहिला का उद्गम स्थल है। यहाँ जालेश्वर महादेव का अत्यन्त प्राचीन मन्दिर है। अमरकण्टक में माई की बगिया, कपिल धारा, दूध धारा, कबीर चौरा, मार्कण्डेय आश्रम, महर्षि भृगु की साधना स्थली (भृगु स्थगल) आदि प्रमुख दर्शनीय, धार्मिक एवं आध्यात्मिक महत्व के स्थान हैं। नर्मदा के उद्गम स्थल कुण्ड से 6 किमी. दूरी पर कपिल धारा है। यहाँ से लगभग 150 फिट नीचे नर्मदा गिरकर बहती है। यह स्थल महर्षि कपिल की तपस्थली रहा है, इसीलिय इस जगह को कपिलधारा कहते हैं। कपिल धारा से एक–डेढ़ किलोमीटर और आगे नर्मदा का जल चट्टानों पर गिरने से दूध जैसा प्रवाह परिलक्षित होता है, इसीलिये इस स्थान को दूध धारा कहा जाता है। सन्त कबीर ने इस पुण्य क्षेत्र पर तपस्या की थी। आज भी उनके नाम से कबीर चबूतरा नामक स्थान प्रसिद्ध है। मत्स्य पुराण में कहा गया है कि

अमरकंटक के चारों ओर सभी देवता एवं तीर्थ निवास करते हैं, यहाँ नवनिर्मित जैन मंदिर देखने योग्य है।[5] इस मन्दिर में 24000 किलो वजनी अष्टधातु की भगवान आदिनाथ की प्रतिमा 8000 किलो वजनी कमल पर स्थापित की गई।

बान्धवगढ़

बान्धवगढ़ नेशनल पार्क इस क्षेत्र को प्रकृति का अनुपम वरदान है, जो बरबस ही पर्यटकों का ध्यान मोहित कर लेता है। हवाई मार्ग से दिल्ली से खजुराहो या दिल्ली से जबलपुर पहुँचा जा सकता है। बान्धवगढ़ खजुराहो से 270 कि.मी जबलपुर से 200 कि.मी. तथा रीवा से 135 कि.मी. की दूरी पर है। रेल मार्ग से यहाँ कटनी या उमरिया रेल्वे स्टेशन से पहुँचा जा सकता है। कटनी से बान्धवगढ़ की दूरी 95 कि.मी. तथा उमरिया से 35 कि.मी. है। कटनी और उमरिया दोनों ही रेल्वे स्टेशन रीवा से रेलमार्ग से जुड़े हुये हैं। रीवा से बान्धवगढ़ के लिये सीधी बस सेवा तथा टैक्सी सेवा उपलब्ध है। बान्धवगढ़ राष्ट्रीय अभ्यारण्य का वर्तमान क्षेत्र लगभग 105.4 कि.मी. है। इस अभ्यारण्य में बाघों की संख्या प्रति कि.मी. की दर से सर्वाधिक है। यहाँ 250 से अधिक प्रजातियों की चिड़ियाँ तथा 72 प्रकार की तितलियाँ देखी जा सकती है। सम्पूर्ण अभ्यारण घने जंगलों से आच्छादित है। अभ्यारण्य में वायरलेस स्टेशन तथा अग्निशामक पथ निर्मित किये गये हैं। सुरक्षा व्यवस्था को मजबूत बनाये रखने के लिये तथा अग्निशामक पथ निर्मित किये गये हैं। सुरक्षा व्यवस्था को मजबूत बनाये रखने के लिय अनेक चौकियों का निर्माण भी किया गया है। अभ्यारण्य में चार छोटी–छोटी नदियाँ तथा अमरकण्टक से निकलने वाली प्रसिद्ध जुहिला नदी भी है। अभ्यारण्य में 24 तालाब भी हैं, जो प्राकृतिक वातावरण में और निखार लाते हैं। गर्मी के मौसम में यहाँ का अधिकतम तापमान 42^0 से.ग्रे. तथा शीतकाल में न्यूनतम तापमान 6^0 से.ग्रे. तक दर्ज किया गया है। बान्धवगढ़ में एक प्रागैतिहासिक काल का दुर्ग है। कहा जाता है कि इसको लक्ष्मण जी ने बनवाया था। यह दुर्ग बान्धौ नामक एक पहाड़ी के शिखर पर, जो समुद्रतल से 2662 फीट ऊँचा है, स्थित है। यहाँ दो पहाड़ बान्धौ और बमनिया हैं, दोनों एक दूसरे के बहुत समीप हैं। बमनियां पर भी किसी प्राचीन किले की दीवालें हैं। बांधवगढ़ किले का यह भी एक अंश समझा जाता है। इसके अन्दर एक गांव बसा है, जिसके रहने वालों को ''खोरिया बकसरिया'' कहते हैं। इस दुर्ग के नीचे ''गुलवकावली'' का एक वन है। एक बड़ी पत्थर की शेषशायी भगवान की मूर्ति है, जिसमें एक झरने द्वारा लगातार जल गिरता रहता है। दुर्ग के भीतर एक प्राचीन किला, भगवान का मंदिर, और कबीर दास जी की गुफा है। कबीर दास जी यहाँ बहुत दिनों तक रहे है। बान्धवगढ़ के दुर्ग में बघेलों द्वारा निर्मित कराया गया मोतीमहल व राजकोषालय के अवशेष आज भी विद्यमान हैं। प्रचलित धारणाओं और स्थलों के अनुसार यह स्पष्ट है कि इस दुर्ग में बघेल नरेश वीरभानु के समय सन्त कबीर दास यहाँ रहे हैं। इसी तरह यह कहा जाता है कि बघेल नरेश रामचन्द्र ने इस दुर्ग में मुगल बादशाह हुमायुं की पत्नी को, जब शेरशाह उसका पीछा कर रहा था, शरण दी थी। इस दुर्ग की एक गुफा में सबसे प्राचीन ब्राह्मी लिपि में लिखा हुआ एक शिलालेख है। इस गुफा के दोनों ओर शैलचित्र उत्कीर्ण हैं, जिनमें बाघ, दरियाई घोड़े आदि अंकित हैं। गुफा के भीतर बाघ द्वारा एक दरियाई घोड़े के शिकार का शैल चित्र है। उल्लेखनीय है कि संगीत सम्राट तानसेन को सन् 1563 में यहाँ के बघेल नरेश रामचन्द्र ने मुगल सम्राट अकबर के आमंत्रण पर भेजा था।

पर्यटन की दृष्टि से यह एक छोटा किन्तु सघन राष्ट्रीय उद्यान है। बाँधवगढ़ में बाघों की बहुलता पूरे भारत में बाघों की बहुलता की तुलना में सबसे अधिक है। विशाल चट्टानी पहाड़ियों से भरे इस क्षेत्र में दलदली सतह और घने जंगलों से पटी घाटियाँ हैं, जहाँ असंख्य ऊर्ध्वगामी गिरिश्रृंग दिखायी पड़ते हैं। इनमें सबसे सुन्दर बाँधवगढ़ की पहाड़ियाँ हैं। बाँधवगढ़ विशाल खड़ी हुई चट्टानों से धिरा हुआ है। सबसे ऊँची चट्टान पर पुराना बाँधवगढ़ का किला है। इस उद्यान के चारों ओर विशेष रूप से किले के आसपास अनगिनत गुफाएँ हैं, जिनमें वेदियाँ हैं और प्राचीन संस्कृत शिलालेख उत्कीर्ण हैं। शहडोल जिले में विन्ध्यपर्वत माला की दूरस्थ पहाड़ियों में स्थित बाँधवगढ़ 448 वर्ग कि.मी. क्षेत्र में फैला है। समुद्र सतह से औसतन 811 मीटर ऊपर बाँधवगढ़ गिरि है, जिसे अनगिनत पहाड़ियाँ घेरे हुये हैं। बीच–बीच में ढलानदार घाटियाँ हैं, जो छोटे–छोटे दलदली घास के मैदानों में समाप्त होती हैं। स्थानीय लोग इन्हें 'बोहेरा' कहते हैं, इस उद्यान का सबसे निचला बिन्दु स्थल ताला है, जो समुद्र सतह से औसतन 440 मीटर ऊपर है। इस भू–भाग की घाटियों और ढलानों में साल के वन फैले हुये हैं, जो पहाड़ियों तथा उद्यान के दक्षिण और पश्चिम में उष्ण–शुष्क क्षेत्र होने के कारण पतझरीय वनों के रूप में बदलते जाते हैं।[6] यहाँ बाँस सब जगह पाया जाता है। राष्ट्रीय उद्यान बनने के पहले बाँधवगढ़ के आसपास के जंगलों की सुरक्षा रीवा के महाराजाओं या उनके अतिथियों द्वारा ही होता था। इस कारण यहाँ के वन्य प्राणी अपेक्षाकृत अधिक सुरक्षित थे। रीवा के महाराजा के लिये 109 शेरों का शिकार शुभ माना जाता था। 1947 में रीवा रियासत का विलय मध्यप्रदेश में हुआ और बाँधवगढ़ मध्यप्रदेश के शिकर नियमों के अधीन आ गया था, तथापि बाँधवगढ़ में महाराजा रीवा के शिकार संबंधी अधिकार नियम थे। 1968 तक, जब तक कि यह क्षेत्र राष्ट्रीय उद्यान के रूप में गठित नहीं हुआ, यहाँ संरक्षण संबंधी विशेष उपाय नहीं अपनाये गये। बाद में बाँधवगढ़ को राष्ट्रीय उद्यान के रूप में विकसित करने की दृष्टि से अनेक उपाय किये गये, जिससे कि वह वन्य प्राणियें के लिय सहज प्राकृतिक आवास स्थान के रूप में ही बना रहे।

दर्शनीय स्थान किला

ऐसा कोई अभिलेख नहीं है, जो यह बता सके कि बाँधवगढ़ दुर्ग का निर्माण कब हुआ। परन्तु ऐसा माना जाता है कि वह लगभग दो हजार साल पुराना है। इस दुर्ग पर अनेक राजवंशो ने राज किया। पहली सदी ईसवीं में माघो, तीसरी सदी से वाकाटकों, पाँचवीं सदी से सेंगरों और दसवीं सदी से कलचुरियों ने राज्य किया। तेरहवीं सदी में बघेल राजाओं ने इस पर नियंत्रण कर 1617 ईसवीं तक राज किया। फिर महाराजा विक्रमादित्य सिंह ने रीवा को अपनी राजधानी बनाया।

भरहुत

टमस घाटी में स्थित भरहुत सतना से लगभग 14 कि.मी. दक्षिण सतना–अमरपाटन मार्ग पर स्थित है। रीवा से यह सड़क मार्ग पर 66 कि.मी. की दूरी पर है। भरहुत को गोरगी से भी प्राचीन शिल्पकालीन केन्द्र माना जाता है। भरहुत गाँव के स्तूप के अवशेष सर्वप्रथम भारतीय पुरात्व विभाग के महानिदेशक एलेक्जेण्डर कंनिघम द्वारा सन् 1873 में खुदवाने पर पाये गये थे। कंनिघम ने 1874 में स्तूप के पूर्वी द्वार के अवशेषों को भारतीय संग्रहालय कलकत्ता और शेष शिल्प अवशेषों को बघेलखण्ड पोलिटकल एजेन्सी सतना को भेजा था। इन अवशेषों से यह प्रमाणित होता है कि मौर्य–शुग में भरहुत एक महानगर था। यहीं से उत्तर से दक्षिण जाने वाला महापथ (राजमार्ग) गुजरता था। यहाँ के मूल स्तूप का निर्माण मौर्यकाल में और पुर्ननिर्माण शुंग काल में हुआ था। भरहुत

स्तूप की वेदिका के 80 स्तम्भ थे, जिनमें कंनिघम द्वारा की गई खुदाई में 48 स्तम्भ तथा 40 उष्णीय में से 16 उष्णीय ही प्राप्त हुये थे। शेष अवशेष आज भी उस भू–भाग में बिखरे पड़े हैं। प्रयाग संग्रहालय के संस्थापक श्री ब्रजमोहन व्यास ने अथक परिश्रम कर भरहुत कला के 54 शिल्प अवशेष प्राप्त किये थे, जो प्रयाग संग्रहालय में विद्यमान है। भरहुत स्तूप और उसकी वेदिका की ठीक–ठीक निर्माण तिथि ज्ञात नहीं हो सकी है। डॉ. वेणीमाधव के मतानुसार स्तूप का निर्माण तीन चरणों में पूरा हुआ होगा। कंनिघम ने तोरण की निर्माण तिथि 150 ई. पूर्व निश्चित की है। भरहुत कला विशुद्ध भारतीय है। इनमें बुद्ध के जीवन से संबंधित घटनाओं को केवल सांकेतिक चिन्हों मात्र से ही प्रदर्शित किया गया है। लोक–जीवन का चित्रण यहाँ की कला की महत्वपूर्ण विशेषता है, इनमें मानव, पशु–पक्षी आदि के चित्रों को बहुलता से चित्रित किया गया है। कल्पित पशुओं में आकाशचारी, अश्व, सपक्ष सिंह, व्याल, गजमच्छ, मगरमच्छ, मछली की पूँछ के साथ मगर की आकृति के अतिरिक्त चौदह प्रकार के पशु, छह प्रकार के पक्षी, सर्व मकर, कच्छव, गोध और मेढ़ उत्कीर्ण किये गये हैं। चतुष्पदी पशुओं में हाथी, सिंह, अश्व, गेंडा, जंगली बकरी, वृष, मृग, बारहसिंगा, भेड़िया, बंदर, बकरी, बिल्ली, कुत्ता, भेंड़, खरगोश गिलहरी, पक्षियों में सुग्गे, हंस, मोर बटेर अंकित किये गये हैं। भरहुत कला के स्तूपों में हाथी, बंदर और मनुष्यों के कई मनोरंजक दृश्य दर्शाये गये हैं। ऐसे ही एक दृश्य में एक यक्ष छोटे मूढ़े पर आसीन है। उसके सिर पर भारी पग्गड़ है। चेहरा गलगुच्छ युक्त मोटापा लिये हुए है। कुछ बंदर कहीं से सड़सी ले आये हैं, जिसे एक हाथी झटका देकर खींच रहा है और उससे यक्ष की नाक का बाल उखाड़ा जा रहा है कुछ विद्वानों का मत है कि सड़सी से यक्ष का दांत उखाड़ा जा रहा है। दो शिल्पों में कुछ मनुष्य और कुछ बंदर एक जंगली हाथी को पकड़कर मोटे रस्से से बांधे ले जा रहे हैं। बंदर और मनुष्य के मल्ल युद्ध का दृश्य भी कम उल्लेखनीय नहीं है। एक अन्य दृश्य में एक महा सामुदायिक जीवन या तिमिड़ग्ल मत्स्य मनुष्यों से युक्त एक नाव को जबड़ों से चबा रहा है। इसी तरह नटों के खेल वाला दृश्य दिखाये गये हैं। नीचे स्त्रियाँ नृत्य मुद्रा में चित्रित हैं। इसमें वंशी, वीणा, मृदंग, भेरी आदि कई प्रकार के वाद्य यंत्रों का चित्रण मिलता है। शुंगकाल में औषधि विज्ञान ने पर्याप्त उन्नति कर ली थी। जातक कथाओं से विदित है कि एक बार बोधिसत्व चर्म रोग से पीड़ित हुये। उनके उपचार के लिये इंद्र ने गंधमादन पर्वत से जड़ी एकत्र की थी। भरहुत शिल्पों में एक ऐसा दृश्य अंकित है, जिसमें एक थैले में एक व्यक्ति को जो संभवतः वैद्य होगा, औषधि एकत्र करते हुए प्रदर्शित किया गया है। भरहुत कला में कुछ वृक्षों का चित्रण अत्यन्त मनोरंजक है। इन वृक्षों से वस्त, अलंकरण, जल, भोजन और सुन्दर स्त्रियाँ निकलती हुई अंकित की गई हैं। भरहुत के कुछ भग्नावेष रामवन के संग्रहालय में भी हैं। इस तरह भरहुत इस क्षेत्र की कला का एक बहुत बड़ा केन्द्र था और इसे भारत के पुरातत्व मानचित्र में पुर्नस्थापित किया जाना चाहिए। रेवा पठार के उपरहार में देउर–कोठार के बाद बौद्धों का लघु क्योंटी में था। यहाँ स्थित दो प्राकृतिक गुफायें हैं जहाँ बौद्ध भिक्षुक ठहरते थे। यहाँ शैलचित्र भी पाये गये हैं।

देउर–कोठार

देउर कोठार अभी हाल में खोजा गया प्राचीन बौद्धकालीन स्थल है, जो रीवा–इलाहाबाद राष्ट्रीय राजमार्ग क्रमांक–27 पर स्थित कटरा कस्बे से उत्तर–पश्चिम 5 कि.मी. दूरी पर स्थित है। रीवा से इस स्थान की दूरी 65 कि.मी. है। प्राचीन भारत में 16 महाजनपद थे, जिनमें प्रमुख जनपद उज्जैन से श्रावस्ती तक जाने का जो मार्ग था वह विन्ध्य पर्वत श्रृखंला के मध्य से रीवा की त्यौंथर तहसील के देउर, देउपा, देवरा एवं देवरी ग्राम से होता हुआ कौशाम्बी जाता था। देउपा एवं देउर ग्राम के बची मड़फा नामक पहाड़ पर एक प्राचीन पाषाण मठ बना हुआ है। इस मठ के समीप ही प्राचीन बौद्धकालीन अवशेष विद्यमान हैं। इस स्थल की खोज सर्वप्रथम डॉ. पी.के. मिश्रा, सुपरिन्टेण्डिंग आर्कियालॉजिस्ट, भारत सरकार के द्वारा 1982 में श्री अजीत सिंह के साथ की गई है। 1988 में भारत सरकार ने इसे राष्ट्रीय महत्व का स्मारक घोषित कर आर्कियालॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया की देखरेख में रखा है। यह स्थल विन्ध्य पर्वत श्रेणी में स्थित है। सम्राट अशोक ने देश में चार हजार स्तूपों का निर्माण कराया था। अभी तक रीवा जिले में 37 बौद्धकालीन स्तूप मिले हैं। इन्हीं में देउर–कोठार के स्तूप भी हैं। साँची के स्तूप की खोज के 182 वर्ष बाद यह स्तूप मिले हैं, जिनमें एक 53 फिट का भी हैं। अभी तक इस क्षेत्र में स्तूपों के अलावा बौद्ध विहार, आकर्षक शैलाश्रय, ब्राम्ही लिपि से उत्कीर्ण स्तंभ व शिलालेख, ड्रेनेज सिस्टम, जल ग्रहण क्षेत्र, हर्मिका यष्टि, छत्रावली, भू–वेदिका, सड़क मार्ग, ताँबे के सिक्के, बर्तन, रेलिंग आदि के महापाषाण ईशा पूर्व तीसरी एवं दूसरी शताब्दी के अवशेष प्राप्त हुये हैं। अभी तक हुये उत्खनन के संबंध में डॉ. मिश्र का कहना है कि यह उत्खनन की शुरूआत है तथा अभी मात्र 10 से 15 प्रतिशत पुरातत्वीय अवशेष ही प्राप्त हुए है, अभी तो हमने सिर्फ यही समझा है कि यह क्षेत्र बौद्ध इतिहास में एक नया अध्याय जोड़ेगा, उन्होंने कहा कि यहाँ कास्केट मिलने की भी प्रबल संभावना है जिसमें बोधिसत्व व किसी प्रमुख बौद्ध अनुयायी के अस्थि अवशेष प्राप्त हो सकते हैं। स्तूपों आदि का कालखंड मौर्यकालीन तथा शुंगकालीन बताया गया है। सबसे महत्व की बात यह है कि साँची के स्तूपों की खोज करने वाले प्रसिद्ध ब्रिटिश पुरातत्वेत्ता व भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण के प्रथम महानिदेशक कनिंघम ने उपरोक्त क्षेत्र के सभी पुरावशेषों की खोज की थी पर आश्चर्य है कि देउर बरहट के स्तूप व अन्य स्मारकों तक वे नहीं पहुँच सके। बरहट उत्खनन को 40 सेक्टरों में बांटा गया था, इनमें सेक्टर चार व सेक्टर तेईस सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं, स्तूप क्रमांक एक तथा चार अन्य स्तूप ईट के तथा शेष 32 स्तूप पत्थर के हैं, ब्राम्ही लिपि के स्तंभ लेखों में ''भगवतों बुद्ध'' लिखा हैं। डॉ. मिश्र ने उत्खनन की 150 से भी अधिक फिल्म स्लाइड तैयार की हैं। स्तूपों की इस श्रृंखला में मिट्टी का लेपुआ है, जो पहली बार किसी स्तूप में दिखाई दिया है। साँची, सारनाथ, बोधगया, कौशाम्बी व भरहुत के स्तूपों में ऐसा नहीं है। कुल मिलाकर ब्राम्ही लिपि के 32 शिलालेख मिले हैं। उत्खनन निदेशक डॉ. मिश्र प्रदक्षिणा पथ की खोज भी कर रहे हैं, जिसके काफी प्रमाण प्राप्त हुए हैं, स्तूप की पूर्वी दिशा में 3500 मीटर लंबा वेदिका के ऊपर का उष्णीय पाषाण भी ज्यों का त्यों मिला है। इस पर सुंदर कमल का अलंकरण है, जो विश्व पुरात्व इतिहास की धरोहर है।

कालिंजर

कालिंजर का स्पष्ट उल्लेख ऋग्वेद में वर्णन किये गये तपस्थलों में किया गया है। महाभारत के वनपर्व में इसे मेधाविक तीर्थ का लोकविश्रुत पर्वत बताया गया है। पुराणों में कालिंजर का पर्याप्त संदर्भ मिलता है। मत्स्यपुराण में कालिंजर को देश तथा वन बताते हुए वहां काली का निवास बतलाया गया है। कालिंजर में श्राद्धदान की महिमा का उल्लेख वायु पुराण में मिलता है। कालिंजर में नीलकंठ मंदिर के स्थित होने का उल्लेख वामनपुराण में पुराण में मिलता है। स्कन्दपुराण में कालिंजर को पुरुषोत्तम क्षेत्र कहा गया है। मत्स्यपुराण से मालूम होता है कि यहाँ पर कौशिक के 7 पुत्रों

ने हिरण–रूप में जन्म लेकर योग–साधना की थी। भागवत पुराण के अनुसार भरत यहाँ पर हिरण–योनि में उत्पन्न हुये थे। कालिंजर के मृगधारा में हिरण आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं। अभिलेखों में भी कालिंजर के उल्लेख मिलते है। प्रतिहार भोजवर्मा के बराह ताम्रपात्र से ज्ञात होता है कि कालिंजर मण्डल उसके साम्राज्य में स्थित था। निजामुद्दीन ने कालिंजर की अजेयता का उल्लेख किया है। यह अजेय दुर्ग रेवा–पठार के तहार में स्थित है। विन्ध्य क्षेत्र में कालिंजर की भौगोलिक स्थिति अपना महत्व रखती है। यमुना की दक्षिणी घाटी एवं विन्ध्यन तलहार में यह दुर्ग चौकस प्रहरी की तरह खड़ा है।[7] यह दुर्ग समुद्र तल से 370 मीटर ऊँची पहाड़ी पर स्थित है। यह पहाड़ी पास के पहाड़ से अलग है और दोनों के बीच में 360 मीटर चौड़ी एक गहरी खाई है। पहाड़ी दीवार की भांति मैदान में खड़ी है और ऊपर जाकर लगभग 45 या 50 मीटर तक बिल्कुल सीधी दीवार सी बनी हुई और कुछ स्थलों पर तो यह दुर्गम है। दुर्ग की दीवार पहाड़ी के अतिरिक्त पत्थर की बड़ी–बड़ी चट्टानों से निर्मित है। इसके निर्माण में कोई गारा आदि नहीं लगाया गया है। यह दीवार लगभग 10.5 मीटर मोटी है। इस प्रकार इस दुर्ग की संरचना तलहार की एक विस्तृत पहाड़ी को रक्षात्मक ढंग से संजोकर विशाल प्रस्तर खण्डों से की गई है। इसमें जल एवं कृषि के साथ ही आश्रय की पर्याप्त सुविधा है। यही कारण है कि कालिंजर (कालंजर) प्राचीनकाल से लोगों को आश्रय देता रहा है। इस दुर्ग में प्राप्त अभिलेखों एवं कला स्थापत्यों आदि से इसका प्राचीन इतिहास उजागर होता है। हिन्दू मध्यकाल में इस दुर्ग की सुरक्षा व्यवस्था को और सुदृढ़ किया गया था। कभी इस दुर्ग पर कलचुरियों ने आधिपत्य स्थापित किया तो कभी चन्देलों ने। इस दुर्ग को लेने पर इन राजवंशों ने अपने को कालंजराधीश्वर घोषित किया। अबुल फलज ने अकबरनामा में लिखा है कि, अथक प्रयत्न करने पर भी महमूद गजनबी इस दुर्ग को चन्देलों से नहीं ले सका था। चन्देलों के पराभव पर यह दुर्ग 'भर' राजाओं के आधिपत्य में आ गया। जब बघेल इस क्षेत्र में आये तब उन्होंने सर्वप्रथम कालिंजर के 'भरों' के यहाँ सेवा की। तदन्तर गहोरा मे अपना राज्य बना लिया।

बघेलखंड की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की व्याख्या बघेलखंड के समस्त बघेल शासकों की विवेचना के बिना अधूरी मानी जायेगी। अतः बघेलखंड में बघेलसत्ता के संस्थापक राजा व्याघ्रदेव से लेकर इस वंश के अंतिम मान्यता प्राप्त शासक महाराज मार्तण्ड सिंह के काल तक का संक्षिप्त वर्णन यहाँ आवश्यक मानकर प्रस्तुत किया जा रहा है।

निष्कर्ष

रीवा' रेवा संस्कृति का हृदय, विन्ध्यांचल का गौरव, राजनीति की धुरी, 400 वर्षों के सामाजिक एवं राजनैतिक परिवर्तन का साक्षी, एक ऐसा प्राचीन नगर है, जो राजतंत्रीय, कुलीनतंत्रीय और लोकतंत्रीय सभ्यता को अपने अंक में समेटे हुए भारत के मध्य में स्थित है। धर्मनिरपेक्षता, रीवा नगर के लिए कोई नवीन बात न होकर यहाँ की सामाजिक और सांस्कृतिक धरोहर है। नगरीय सभ्यताओं का विकास नदियों के किनारे प्रारम्भ हुआ है। यह नगर भी बिछिया तथा बीहर नदियों के संगम पर बसा हुआ है। इसके दक्षिण पूर्व की ओर बिछिया नदी तथा दक्षिण–पश्चिम की ओर बीहर नदी है, जिसके संगम स्थल में नगर का प्राचीन किला निर्मित है। नर्मदा, सोन, टमस, बिछिया तथा बीहर नदियाँ, चचाई, क्योंटी तथा बहुती जल प्रपात रीवा को मिलने वाले प्रकृति के वरदान हैं। रीवा का नामकरण इस क्षेत्र की पुण्य सलिला नर्मदा के नाम से रेवा है। यमुना और नर्मदा के बीच बसे इस नगर का नामकरण के नाम रेवा से पड़ा है। 'रेवा तु नर्मदा सोमोद्भवा मेकलकन्यका' यह सम्पूर्ण अंचल साधनारत ऋषियों, मुनियों, फकीरों तथा सन्तों के आध्यात्मिक प्रभाव के कारण एक अलौकिक प्रभामण्डल से प्रदीप्त रहता है।

सन्दर्भ

1. सिंह, विक्रम : बघेलखण्ड का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, शेखर प्रकाशन, इलाहाबाद, वर्ष 2002, पृष्ठ 213.
2. स्कन्ध पुराण (5/18/112)
3. मत्स्य पुराण (190/24)
4. सिंह, विक्रम : बघेलखण्ड का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, शेखर प्रकाशन इलाहाबाद, वर्ष 2002, पृष्ठ 227–28
5. मत्स्य पुराण (185/25)
6. पाण्डेय, सुधा : शोध–ग्रंथ बघेलखण्ड में स्वाधीनता आन्दोलन, अ.प्र.सिह विश्वविद्यालय, रीवा, वर्ष 2008.
7. प्रो. एस. अखिलेश : बघेलखण्ड का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, गायत्री पब्लिकेशन, रीवा, वर्ष 2012, पृष्ठ 123.